Journal of Advances and Scholarly Researches in Allied Education

Vol. VI, Issue No. XI, July-2013, ISSN 2230-7540

REVIEW ARTICLE

वैदिक काल में विवाह पद्धति

AN INTERNATIONALLY INDEXED PEER REVIEWED & REFEREED JOURNAL

www.ignited.in

Journal of Advances and Scholarly Researches in Allied Education
Vol. VI, Issue No. XI, July-2013, ISSN 2230-7540

वैदिक काल में विवाह पद्धति

Jamuna Lal Meena*

Lecturer, Department of History, Govt. College Karauli, Rajasthan

सार – ***विवाह की अवधारणा-विवाह एक सर्वव्यापी और सार्वभौम संस्था है, जो सभी समाजों में विद्यमान है। असभ्य और सभ्य तथा आदिम और आद्युनातन जैसे समाज विवाह-संस्था से सम्बन्ध रहे हैं। ऐसा प्रतीत होता है कि विवाह संस्था की प्रतिष्ठा क्रमिक विकास का परिणाम है।***

----------X----------

(क) विवाह की अवधारणा, अभिप्राय (आशय)

प्राय: -ऐतिहासिक काल में जिस समय मनुष्य असभ्य था, ऐसे समाज की कल्पना की जा सकती है जिसमें नियमित रूप से विवाह न होते थे, और नर-नारी स्वेच्छाचारी होते थे। तथापित भारतीय साहित्य में कोई ऐसा उदाहरण नहीं मिलता जिसके आधार पर निश्चयपूर्वक यह कहा जा सके कि किसी समय विशेष में भारतीय समाज में विवाह संस्था न थी। महाभारत में पांडू अपनी रानी कुन्ती से कहते हैं कि उत्तर कुरु प्रदेश में स्त्रियाँ पति के नियंत्रण में नहीं रहती थी और अपने इच्छानुसार आचरण करती थी। वे अपने पति से बिना पूछे दूसरे पुरुष के पास चली जाती थी। वे दूसरे को छोड़कर तीसरे पुरुष से अपना यौन सम्बन्ध बना लेती थी।

इस तरह पति और पत्नी के बीच स्थायी सम्बन्ध नहीं था। उद्दालक के पुत्र श्वेतकेतु ने पहली बार स्त्रियों की स्वतंत्रता पर प्रतिबन्ध लगाया। उसने नियम बनाया कि यदि कोई स्त्री अपने पति से विश्वासघात करे अथवा कोई पुरुष अपनी निर्दोष पत्नी से विश्वासघात करे तो बहुत बड़े पाप का दोषी हो जाता है।

जो भी हो, ऋग्वेद के अनुशीलन से यह स्पष्ट होता है कि वैदिक आर्य सुरक्षित एवं ग्राम्य जीवन और प्रभु संतति की अभिलाषा करते थे, इसलिए वे विवाह को अत्यधिक महत्व देते थे। ऋग्वैदिक काल में विवाह एक पवित्र एवं आवश्यक संस्कार समझा जाने लगा था। इसका ध्येय नर-नारी को गृहस्थ जीवन में प्रविष्ट कराना था। वैयक्तिक एवं सामाजिक विकास के लिए विवाह पूर्णतया आवश्यक समझा जाता था। इसी से पत्नी की प्रशंसा में उसे गृह का अलंकरण अथवा स्वंय गृह कहा गया है। पति और पत्नी दोनों मिलकर याज्ञिक कर्म करते थे। विविध कारणों से ऋग्वैदिक काल में पुत्रों की आवश्यकता समझी जाती थी। अतः उनकी प्राप्ति के लिए विवाह आवश्यक था। यद्यपि ऋग्वैदिक काल में विवाह साधारणतया आवश्यक समझाा जाता था, परन्तु वह अनिवार्य न था। ऋग्वेद में अनेक कन्याओं के उदाहरण हैं जो दीर्घकाल पर्यन्त अथवा जीवन पर्यन्त अविवाहित अवस्था में अपने माता-पिता के साथ रहती थी। ऐसी कन्याओं को 'अमाजूः' कहते थे। अथर्ववेद में भी अविवाहित कन्याओं का आजीवन पितृगृह में रहने का उल्लेख किया गया है।

वैदिक साहित्य के अध्ययन से प्रकट होता है कि विवाह ने धीरे-धीरे एक धार्मिक संस्कार का रूप ले लिया। तैत्तिरीय संहिता के अनुसार विवाह करने के बाद ही मनुष्य पूर्ण माना जाता था, क्योंकि पत्नी पुरुष का अंग है। यही उद्धरण तैत्तीय ब्राह्मण में भी मिलता है। शतपथ ब्राह्मण पत्नी पुरुष का अंग है, इसलिए जब तक वह पत्नी प्राप्त नहीं करता, उसके पुत्र के रूप में पैदा नहीं होता (प्रजायते) तब वह वह अपूर्ण रहता है। जब तीन ऋणों का सिद्धान्त समाज में व्यापक हो गया, तब विवाह की महत्ता और भी बढ़ गई। यह एक धार्मिक कत्तव्य माने जाने लगा, क्योंकि सिर्फ विवाह करके ही कोई व्यक्ति सन्तानोत्पति के द्वारा पितृऋण से मुक्त हो सकता था। द्वग्वेद में वध्यश्व के पुत्र दिवोदास को 'ऋणच्युत' अर्थात पितृ ऋण चुकाने वाला कहा गया है। इस सम्बन्ध में तैत्तिरीय संहिता में यह उदाहरण मिलता है- ब्राह्मण तीन ऋण लेकर जन्मता है। ब्रह्मचर्य द्वारा वह ऋषियों का, यज्ञ द्वारा देवताओं का और सन्तान द्वारा पितरों का ऋण चुका देता है। इसका समानान्तर स्थल शतपथ ब्राह्मण और ऐतरेय ब्राह्मण में मिलता है।

वैदिक काल के पश्चात अधिकाधिक बल के साथ विवाह-संस्कार की अनिवार्यता का प्रतिपादन होने लगा। आपस्तम्ब धर्मसूत्र में यज्ञ कर्म में पति-पत्नी के महत्त्व की व्यवस्था की गई है। दूसरे

www.ignited.in

स्थान पर उसी धर्म सूत्र का कथन है कि धर्म प्रजा सम्पन्न स्त्री के होते हुए मनुष्य को दूसरा विवाह नहीं करना चाहिए। मनु के अनुसार पत्नी पर पुत्रोत्पति, धार्मिक कृत्य, सेवा, परमानन्द तथा स्वर्ग प्राप्ति निर्भर करती है। इससे प्रकट होता है कि धार्मिक क्रियाओं एवं पुत्र प्राप्ति के लिए विवाह आवश्यक समझा जाता था।

महाभारत में भी अनेक ऐसे उदाहरण मिलते हैं, जिनसे विवाह की अनिवार्यता स्पष्टतया दृष्टिगोचर होती है। उसमें एक स्थान पर कहा गया है कि जो व्यक्ति अपनी कन्या का विवाह उचित वर के साथ नहीं करता वह ब्रह्मघाती है। इसी प्रकार जो व्यक्ति कन्या के पिता का प्रस्ताव अस्वीकृत करती है, वह भी निन्दनीय है। महाभारत स्त्री के बिना घर की ही कल्पना नहीं करता।

भार्या को देवकृत सरवा कहा गया है और इस प्रकार विवाह को एक दैवी संस्था के रूप में प्रस्तुत किया गया है।

अस्तु, हिन्दू, धर्मशास्त्रों में विवाह को धार्मिक संस्कार माना गया है, जिसमें धर्म का स्थान प्रधान है, सामाजिकता और वैधानिकता का कम। इसलिए सनातनी हिन्दू समाज में विवाह का मात्र शारीरिक सम्बन्ध का प्रयोजनन बन कर सन्तोनोत्पत्ति का धर्मगत आधार बना। यज्ञ, होम, मंत्र-पाठ, देवताओं का आह्नान तथा वेदमंत्रों के साथ वैवाहिक क्रिया सम्पन्न करना हिन्दू विवाह संस्कार के मुख्य अंग हैं। इस धार्मिक आधार से विवाह को अत्यन्त पवित्र और उदात्त स्वरूप प्रदान किया। हिन्दू समाज में कोई भी धार्मिक कार्य बिना पत्नी के सम्पन्न नहीं होता, इसलिए वह 'धर्मपत्नी' अथवा 'सहधर्मिणी' भी कही गई है। मनु के अनुसार केवल पुरुष कोई वस्तु नहीं, वह अपूर्ण है। स्त्री, स्वदेह तथा सन्तान ये तीनों मिलकर ही पुरुष (पूर्ण) होता है, ऐसा ब्राह्मण कहते हैं। जो पति है, वही स्त्री है। गृह की शोभा और सम्पन्नता स्त्री से मानी गई है।

स्त्री से परिवार बनता है, अतः विवाह गार्हस्थ्य जीवन का मूल है और सभी आश्रम ग्राहस्थ्य जीवन पर निर्भर करते हैं। पुरुष और स्त्री के व्यक्तित्व का विकास, वंश का उत्थान तथा कुटुम्ब का संयोजन विवाह से ही संभव है। विवाह ही स्त्री और पुरुष की पूर्णता तथा उनकी सामाजिक और आध्यात्मिक अभिव्यंजना का आधार है।

सार-संक्षेप में, विवाह प्रारम्भ में केवल एक सामान्य व्यवहार के रूप में प्रचलित हुआ, बाद में इसने परम्परा और रीति-रिवाज का रूप धारण किया और अंत में यह एक महत्वपूर्ण धार्मिक संस्कार बन गया।

विवाह का अभिप्राय- (आशय)

विवाह का अभिप्राय एक ऐसी सामाजिक संस्था से है जो स्त्री और पुरुष को कुछ विशेष नियम और विधि के अन्तर्गत यौन सम्बन्ध स्थापित करने की अनुज्ञा प्रदान करती है और उनके पारस्परिक अधिकारों को मान्यता प्रदान करती है। इस सम्बन्ध में पाश्चात्य विद्वानों ने विस्तार से विचार किया है। किन्तु भारतीय और पाश्चात्य मान्यताओं और मूल्यों में अन्तर है। राबर्ट ब्रेफाल्ट ने हिन्दू विवाह के लिए यौन सम्बन्ध को ही अधिक महत्व दिया है। जो हिन्दू विवाह के मानदण्डों से सर्वथा अलग है, क्योंकि हिन्दू विवाह में धार्मिक मानदण्ड का अत्यधिक महत्व है। वेस्टरमार्क के अनुसार, "विवाह एक या अधिक पुरुषों का एक या अधिक स्त्रियों के साथ जुड़ने वाला वह सम्बन्ध है जो ऐसी प्रथा अथवा कानून द्वारा स्वीकार किया जाता है, जिसमें दोनों पक्षों और उनसे उत्पन्न होने वाली सन्तानों के अधिकार और कर्तव्य समाविष्ट होते हैं। इस परिभाषा से हिन्दू विवाह का सही अर्थ नहीं निकलता। इसमें हिन्दू विवाह की केवल दो विशेषताएं दर्शित होती है। एक, प्रथाओं का महत्व और दूसरा, पति-पत्नी के अधिकार और कत्र्तव्य।

वस्तुतः हिन्दू विवाह जीवन पर्यन्त का धार्मिक बन्धन है, जो अटूट है। विवाह के साथ सामाजिक स्वीकृति होती है जो प्रायः वैधानिक और धार्मिक कृत्य के रूप में होती है तथा जो दो विषमलिंगी मानवों को, पारस्परिक यौन सम्बन्ध तथा इससे सम्बन्धित अन्य सामाजिक और आर्थिक सम्बन्ध स्थापित करने का अधिकार प्रदान करती है।

इससे स्पष्ट होता है कि विवाह का आधार सामाजिक मान्यता है, जो वैधानिक के साथ-साथ धार्मिक भी है। इसमें स्त्री-पुरुष के यौन सम्बन्ध ही नहीं होते बल्कि उसका पारस्परिक सामाजिक और आर्थिक सम्बन्ध भी होता है।

साधारणतः 'विवाह' शब्द का अर्थ है- वधू को उसके पिता के घर से विशेष रूप में ले जाना अथवा किसी विशेष कार्य के लिए अर्थात् पत्नी बनाने के लिए जे जाना।

विवाह संस्कार को सर्वोत्कृष्ट महत्ता प्रदान की गई है। प्राचीन संस्कृत साहित्य में विवाह सम्बन्धी बहुत से शब्द विवाह संस्कार के तत्वों की ओर संकेत करते हैं। यथा-उद्धाह, विवाह, परिणय, उपयम, पाणिग्रहण आदि। 'उद्धाह' का अर्थ है-वधू को उसके पितृगृह से उच्चता के साथ ले जाना। 'विवाह का अर्थ है-विशिष्ट ढ़ंग से कन्या को ले जाना या अपनी स्त्री बनाने को ले जाना।

'परिणय' अथवा 'परिणयन' का अर्थ है- चारों ओर घूमना यानि अग्नि की परिक्रमा अथवा प्रदक्षिणा करना। 'उपयम' का अर्थ है-

किसी को निकट लाकर अपना बनाना तथा 'पाणिग्रहण का अर्थ है-वधू का हाथ ग्रहण करना।

यद्यपि ये उक्त शब्द विवाह संस्कार का केवल एक-एक तत्व बनाते हैं, किन्तु शास्त्रों ने इन सबका प्रयोग किया है और विवाह संस्कार के उत्सव के कतिपय क्रमों को इनमें समेट लिया है। तैत्तिरीय संहिता एवं ऐतरेय ब्राह्मण में विवाह शब्द उल्लिखित है। ताण्ड्य-महा ब्राह्मण में आया है- स्वर्ग एवं पृथ्वी में पहले एकता थी, किन्तु वे पृथक-पृथक हो गए, तब उन्होंने- "आओ हम लोग विवाह कर लें, हम लोगों में सहयोग उत्पन्न हो जाए।" हेमचन्द्र ने 'उढायाम' सूत्र से पाणिग्रहण का अर्थ लिया है, जिसकी व्याख्या 'पाणिगृहीति' शब्द से ही है और लिखा है कि पाणिग्रहण के द्वारा पुरुष स्त्री का वरण करता है। विवाह सम्पन्न हो जाने पर पत्नी को 'पाणिगृहीता' कहा जाता है। संस्कार की विधि केअनुसार 'पाणिगृहीता' शब्द परिणीता स्त्री के लिए प्रयुक्त होता था।

(ख) विवाह का प्रयोजन एवं उद्देश्य

संतति और विशेष रूप में पुत्र की प्राप्ति केलिए ऋग्वेद की बहुसंख्यक प्रार्थनाएँ यह प्रमाणित करती है कि विवाह का मुख्य उद्देश्य सन्तानोत्पत्ति है। ऋग्वेद के विवाह सूक्त में वधू को जो आर्शीवाद दिया जाता है, उसमें संतति पर सर्वाधिक बल दिया गया है। ऋग्वेद के मतानुसार विवाह का उद्देश्य था- गृहस्थ होकर देवनों के लिए यज्ञ करना तथा सन्तानोत्पत्ति करना। स्त्री को 'जाया' कहा गया है क्योंकि पति ने पत्नी के गर्भ से पुत्र के रूप में जन्म लिया। शतपथ ब्राह्मण का कहना है कि पत्नी पति की आधी अर्थात अर्धांगिनी है। अतः तक व्यक्ति विवाह नहीं करता जब तक सन्तानोपथ्त नहीं करता, तब तक वह पूर्ण नहीं है।

जब आपस्तम्ब धर्मसूत्र प्रथम पत्नी के गर्भवती होने के कारण दूसरी पत्नी ग्रहण करने तथा धार्मिक कृत्य करने को मना करता है तो इसका तात्पर्य यह है कि विवाह के दो प्रमुख उद्देश्य हैं-

1. पत्नी पति को धार्मिक कृत्यों के योग्य बनाती है तथा
2. वह पुत्र या पुत्रों की माता होती है और पुत्र ही नरक से रक्षा करते है।

मनु के अनुसार पत्नी पर पुत्रोत्पत्ति, धार्मिक कृत्य, सेवा सर्वोत्तम आनन्द, अपने तथा अपने पूर्वजों के लिए स्वर्ग की प्राप्ति निर्भर रहती है।

बृहदारण्यकोपनिषद में पुत्र उत्पन्न करना यज्ञ माना गया है। यही कारण है कि स्त्रियों के शरीर की उपमा वेदों से की गई है। सन्तान के अतिरिक्त गृहस्थ के रूप से गृह-धर्म चलाना भी विवाह का एक महत्वपूर्ण उद्देश्य था। पाणिग्रहण के समय ऋग्वैदिक काल में पति कहता था कि देवताओं ने गृह-धर्म चलाने के लिए मुझे तुम्है सौंपा है। धर्मशास्त्रों में विवाह का मुख्य उद्देश्य धर्मानुष्ठानों का सम्पादन तथा पुत्रोत्पत्ति है। यही कारण है कि आपस्तम्भ धर्मसूत्र के अनुसार धर्म और सन्तान से युक्त पत्नी के रहते पुरुष को दूसरा विवाह नहीं करना चाहिए, क्योंकि ऐसी पत्नी के द्वारा विवाह का मुख्य उद्देश्य पूरा हो जाता है। चाणक्य-प्रणीत सूत्र में कहा गया है कि पुत्रों के लिए ही स्त्रियाँ होती हैं।

पुत्रोत्पत्ति की महत्ता को ध्यान में रखते हुए स्त्री प्रशंसा के प्रसंग में मनु ने विवाह के उद्देश्य को स्पष्ट किया है- पुत्रोत्पत्ति, धर्मानुष्ठानों का सम्पादन, परम सुख की प्राप्ति, अपने और पुरुषों केलिए स्वर्ग-गमन यह सब केवल स्त्रियों के सहयोग से संभव है। एक अन्य स्थल पर कहा गया है कि गर्भ ग्रहण करने के लिए स्त्रियों की तथा गर्भापान करने के लिए पुरुषों की सृष्टि हुई है। याज्ञवलक्य के अनुसार विवाह के दो उद्देश्य हैं-पुत्रपौत्रादि द्वारा वंश का विस्तार और अग्नि होत्रादि यज्ञों द्वारा स्वर्ग की प्राप्ति। नारद ने विवाह का उद्देश्य सन्तजानोत्पत्ति ही कहा है। अपनी स्मृति में वो इस प्रकार कहते हैं यदि किसी व्यक्ति की अपनी स्त्री में नहीं, बल्कि दूसरी स्त्री में प्रजनन करने की क्षमता हो, तो उसकी पत्नी दूसरे पति से विवाह कर सकती है। यही विधान है। स्त्रियाँ संतोनोत्पत्ति के लिए सृजन की गई है, पत्नी, क्षेत्र और पति बीज का देने वाला है, जिसके बीच हैं, उसी को क्षेत्र दिया जाना चाहिए। जिसके पास बीज नहीं है, वह क्षेत्र रखने योग्य नहीं है।

बृहस्पति पुत्र के महत्त्व के विषय में यह कहते हैं कि वे लोग वास्तविर्क अवधि में माता-कपिता हैं जिनका ऐसा पुत्र हो, जो संसार में वेद-ज्ञान, बुद्धि, वीरता, धन, ज्ञान, उदाहरता और भले कार्यों के लिए विख्यात है।

अतः स्पष्ट है कि धर्म सम्पत्ति, प्रजा तथा इसके फलस्वरूप नरक में गिरने से रक्षा (एवं रति) यौनिक तथा अन्य स्वाभाविक आनन्दोपत्ति। ये तीन विवाह सम्बन्धी प्रमुख उद्देश्य स्मृतियों एवं निबन्धों ने माने हैं।

विवाह के उद्देश्य

प्राचीन काल से ही सनातनी हिन्दू समाज में विवाह एक अनिवार्य संस्कार माना गया है, जिसका उद्देश्य अत्यन्त पवित्र और गौरवशाली है। इसके माध्यम से मनुष्य अपने समस्त अपेक्षित कत्तव्यों और उत्तरदायित्वों का निर्वाह करता है। धर्म का पालन, पुत्र की प्राप्ति एवं रति का सुख विवाह का प्रधान

www.ignited.in

उद्देश्य माने गए हैं। मान्यता है कि मनुष्य को धर्म-सुख, पुत्र-सुख और रति-सुख विवाह से ही उपलब्ध होता है। साथ के साथ उसे देव ऋण, ऋषि ऋण, पितृ ऋण, अतिथि ऋण और भूत ऋण से भी मुक्ति मिलती है।

संक्षेप में विवाह के प्रमुख उद्देश्य निम्नलिखित हैं-

1. **धर्म का पालन -** सनातनी हिन्दू समाज में धर्म का अत्यधिक महत्व है। वैदिक युग से यज्ञ की महत्ता और उसमें प्रत्येक व्यक्ति का सहयोग अपेक्षित था। देवपूजन और यज्ञ-क्रिया धर्म का आधार स्तम्भ रही है। सभी संकार यज्ञ हवन और देवपूजन से प्रभावित रहे हैं। इनके बिना संस्कारों की सम्पन्नता अधूरी मानी गई है। अतः विवाह संस्कार भी धर्म के निर्देश पर सम्पन्न किया जाता रहा है। विवाह का सर्वप्रथम उद्देश्य है- धार्मिक कृत्यों का सम्पादन, जो पत्नी के रहने पर ही व्यक्ति कर पाता है। बिना पत्नी के व्यक्ति का कोई भी धार्मिक कार्य पूरा नहीं माना जाता। इसलिए सभी धार्मिक कार्यों में पत्नी की उपस्थिति आवश्यक मान्य थी। धार्मिक कार्यों में यज्ञों का सर्वाधिक महत्व है। यज्ञ पांच प्रकार के कहे गये हैं- ब्रह्म यज्ञ, देव यज्ञ, भूत यज्ञ, पितृ यज्ञ और अतिथि यज्ञ। इन यज्ञों को सम्पन्न करने में मनुष्य के साथ उसकी पत्नी का होना अनिवार्य बताया गया है। ऋग्वेद के अनुसार विवाह ही व्यक्ति को गृहस्थ बनाता तथा देवताओं के निमित्त यज्ञ करने की योग्यता प्रदान करता है। देवताओं के पूजन में पति-पत्नी एक दूसरे के सहायक माने गए है। तैत्तिरीय ब्राह्मण में उल्लिखित है कि पत्नी रहित व्यक्ति यज्ञ करने का अधिकारी नहीं।

शतपथ ब्राह्मण में कहा गया है कि पत्नी पति के आधे भाग की पूरक है। ऐसी स्थिति में उन दोनों का संयोग ही पूर्णतया है। दरअसल, पत्नी को पाकर ही पति पूर्ण होता है। यह स्वीकार किया गया है कि समस्त याज्ञिक कार्यों में दोनों का एक-दूसरे से सहयोग होना चाहिए। पति के जीवन में पत्नी अनिवार्यता देखते हुए याज्ञवलक्य का कथन है कि पत्नी के मरने के बाद धार्मिक कार्यों के निमित्त दूसरा विवाह कर लेना चाहिए। यज्ञ में साथ बैठने वाली को ही 'पत्नी' कहा जाता है। गुणवती सहधर्मिणी पत्नी को त्यागकर जो व्यक्ति धार्मिक कृत्य करता है, उसका समस्त धर्म निष्फल हो जाता है। धर्म, अर्थ, काम और पुत्र की प्राप्ति पति-पत्नी दोनों के संयोग से होती है।

विशुद्ध धार्मिक कृत्यों के अतिरिक्त गृहस्थ के अनेकानेक धर्म भी इसी के अन्तर्गत आते हैं जो पत्नी के सहयोग और उत्साह से सम्पन्न होते हैं। अतः विवाह गृहस्थ जीवन का मूल है, जिसमें मनुष्य विभिन्न कर्म करत हुआ धर्म का अनुसरण करता है।

2. **पुत्र की प्राप्ति -** विवाह का दूसरा उद्देश्य है- पुत्र की प्राप्ति। पुत्र की प्राप्ति मनुष्य की स्वभावतः बलवती आकांक्षा मानी जाती है। सन्तान सम्बन्धी यह आकांक्षा अत्यन्त प्राचीन है। ऋग्वेद में कहा गया है कि पाणिग्रहण उत्तम सन्तान के लिए है। विवाह सम्पन्न होने पर पुरोहित वर-वधू को अनेक पुत्र पैदा करने का आर्शीवाद देता रहा है।

वैदिक युग से लेकर आज तक सन्तान की प्रबल इच्छा मनुष्य में रही है तथा उसके निमित्त वह अपनी उत्कृष्ट अभिलाषा भी व्यक्त करता रहा है, क्योंकि हिन्दू समाज में पुत्र की अपार महत्ता है। पुत्र उत्पन्न होने से ही पिता को अमरत्व प्राप्त होने की मान्यता है तथा वह पितृ ऋण से मुक्त होता है और जीवन से तमिस दूर करता है। पिता के लिए पुत्र आलोक है तथा संसार सागर से पार करने की 'अतितारिणी' (नौका) है। पुत्रहीन व्यक्ति का समाज में कोई स्थान नहीं है और न उसका दूसरा उत्तम लोक ही है। इसीलिए पुत्र को दूसरा लोक बनाने वाला भी कहा गया है। मनु के अनुसार पिता पुत्र से स्वर्ग आदि उत्तम लोकों को प्राप्त करता है, पौत्र से उन लोकों में अनन्त काल तक निवास करता है तथा प्रपौत्र से सूर्य लोक को प्राप्त करता है।

महाभारत में भी पुत्रवान व्यक्ति की प्रशंसा और पुत्रहीन व्यक्ति की निन्दा की गई है। पुत्र की सार्थकता इसी में है कि वह पिता को 'पुत्' नामक नरक (कुम्भीपाक) में जाने से रोकता है। पुत्र से पिता का नाम, वंश, परिवार और समाज चलता है तथा पिता की प्रतिष्ठा होती है। पुत्र उत्पन्न होने से पिता को दस अश्वमेघों के स्नान का फल प्राप्त होता है और पितरों को कालान्तर में सन्तान से तर्पण और पिण्डदान मिलता है। मृत्यु के बाद सम्पन्न किए जाने वाले संस्कार को पुत्र ही पूरा करता है।

सार-संक्षेप में यह कहा जा सकता है कि भारतीय धर्मशास्त्रकारों ने सामाजिक विकास को दृष्टि में रखकर पुत्रोत्पत्ति पर विचार व्यक्त किया तथा सन्तान की अनिवार्यता पर बल दिया। इसीलिए उन्होंने पुत्रोत्पत्ति को धार्मिक क्रिया के अन्तर्गत रखा तथा इसकी गुणात्मकता और महानता को सामाजिक आधार पर स्वीकार किया। परिवार की निरतन्तरता, समाज का विस्तार, क्रमशः नई पीढ़ियों का आगमन तथा धार्मिक कृत्यों का प्रचलन मूलतः सन्तानोत्पत्ति पर आधारित रहा है।

3. रति-सुख-विवाह का एक प्रयोजन रति-सुख अथवा यौन इच्छाओं की संतुष्टि भी थी, जिसे प्राचीन व्यवस्थाकारों ने मनुष्य के लिए आवश्यक बताया, क्योंकि काम

संतुष्टि से व्यक्ति का मानसिक और शारीरिक संतुलन बना रहता है तथा वह स्वस्थ और सच्चरित्र आधार पर समाज का निर्माण करता है। यद्यपि 'काम' अथवा 'यौन-सम्बन्ध' विवाह का एक उद्देश्य अवश्य है, परन्तु इसे तीसरा स्थान प्रदान किया गया है। इससे स्पष्ट होता है कि यह विवाह का कम अपेक्षित उद्देश्य है।

विवाह में यौन सम्बन्ध की निरन्तर भूमिका पर बल देने के लिए यह कहा जाता है कि शूद्र का विवाह केवल यौन सम्बधों के लिए ही सम्पन्न होता है। शूद्र की स्थिति निम्न थी, इसलिए उसके विवाह का उद्देश्य केवल यौन सम्बन्ध ही माना गया। निश्चय ही यौनपरक वांछा की पूर्ति के लिए विवाह एक सुसभ्य एवं सुसंस्कृत माध्यम है। वैदिक युग में संभोग को आनन्द की पराकाष्ठा माना गया है। मनु जैसे व्यवस्थाकारों ने भी रति की महत्ता स्वीकार की है तथा विवाह के उद्देश्यों में इसे प्रधान माना है। वात्स्यायन ने अपने कामसूत्र ने रति के महत्त्व पर विस्तार से विचार किया है। अपने विचार विश्लेषण से उन्होंने कामपरक सूक्ष्मातिसूक्ष्म भावों का निवेशन किया है। हिन्दू सामाजिक व्यवस्था और दर्शन में काम-भावना का स्थान धर्म से कभी भी महत्वशाली नहीं रहा।

कौटिल्य का मत है कि धर्म और अर्थ से विरोध न रखने वाले काम का सेवतन करना चाहिए। मनु ने भी धर्म विरूद्ध काम का परित्याग करने की सलाह दी है। किन्तु समाज में धर्म पत्नी के अतिरिक्त अन्य स्त्री के साथ रतिक्रिया करना धर्म विरूद्ध माना गया है। ऐसी स्थिति में विवाह के उद्देश्यों में रति अथवा काम-सुख सर्वो परि नहीं, प्रत्युत गौण बतलाया गया। उपर्युक्त विवेचित उद्देश्य व्यक्ति को अत्यन्त शालीन और सदाचारी बनाते हैं तथा उसे नियमित और नियंत्रित करते हैं। शास्त्रानुसार अगर व्यक्ति को यौन स्वतन्त्रता मिल जाए तो समाज अनियंत्रित और अनियमित हो जाएगा तथा उसका नैतिक पतन हो जाएगा। ऐसी दशा में सर्वत्र अव्यवस्था और अशांति का वातावरण बन जाएगा। अतः विवाह नामक संस्था व्यक्ति को समाज का दिग्दर्शन कराती है। स्त्री-पुरुष दोनों के व्यक्तित्वों का उत्थान इन्हीं उद्देश्यों के आधार पर होता है। दोनों के संयोग से ही सन्तान उत्पत्ति होती है जो उनके प्यार और अनुराग का प्रतीत होती है। दोनों के पावन और पवित्र समन्वय से सुव्यवस्थित जीवन का मार्ग प्रशस्त होता है तथा दोनों के जीवन में भौतिक, बौद्धिक और आध्यात्मिक भावना का विकास होता है। परिवारगत और समाजगत आचार-विचार परम्परा-प्रथा और धर्म-कर्म की निरन्तरता को विवाह की सतत प्रवहमान बनाता है और एक सभ्य समाज के निर्माण में योगदान करता है।

(ग) विवाह की महत्ता (महत्व)

सनातनी हिन्दू समाज में विवाह सुनियोजित और सुव्यस्थित जीवन का प्रतीक रहा है। धर्म के अनुपालन, याज्ञिक कार्य, सन्तानोत्पत्ति, वंशोत्थान, गृर्हस्थ्य तथा पितरों के लिए पिंडदान आदि के निमित्त विवाह आवश्यक माना गया है। इस सम्बन्ध में प्राचीन हिन्दू धर्म ग्रन्थों में उदाहरण के साथ विवाह की महत्ता पर प्रकाश डाला गया है। महाभारत से विदित होता है कि जरत्कारू नामक एकनिष्ठ ब्रह्मचारी ने आजीवन विवाह न करने का दृढ़ निश्चय कर लिया था, परन्तु अपने पितरों की दुर्दशा देखकर उसे अपना प्रण तोड़ना पड़ा। उसके पितरों को महान कष्ट था। वे नरक का जीवन जी रहे थे। अतः अपने पितरों की सद्गति के लिए नागराज वासुकी की बहन से विवाह कर तत्सम्बन्धी धार्मिक कृत्य किया। अभिज्ञान शाकुन्तलम से विदित होता है कि दुष्यंत अपना कोई पुत्र नहीं होने के कारण अपने जीवन को धिक्कारता है। मार्कण्डेय पुराण में उल्लिखित है कि वीतराग रूचि विवाह को दुःख और पाप का घर समझता तथा गृहस्थाश्रम को अज्ञान और मोक्ष प्राप्ति में बाधक मानता था। किन्तु, अंतगोगत्वा उसने अपनी भूल स्वीकार की तथा पितरों की मुक्ति हेतु अपने वृद्धावस्था में मालिनी नाम की कन्या से विवाह किया। इसी प्रकार पृथुश्रवा भी वैराग्य और तापस जीवन को सर्वाधिक महत्वर्पूा समझता था, किन्तु पितृ ऋण से मुक्ति पान के लिए विवाहोपरान्त उसने गृहस्थ जीवन में प्रवेश किया।

धर्मशास्त्रों में स्त्रियों को भी अविवाहित न रहने का निर्देश दिया गया तथा उनका मुख्य कार्य सन्तानोत्पादन बताया गया है। बिना विवाह के स्त्रियों को भी सद्गति और मोक्ष नहीं प्राप्त हो सकता था, और न ही उन्हें स्वर्ग मिल सकता था। महाभारत के एक उदाहरण से पता चलता है कि कुणिगर्ग ऋषि की मानसी कन्या ने अपना सारा यौवन तपस्या में लगाया। अपने जैसा तपस्वी न कमलने पर उसने विवाह नहीं किया अन्त में उसने परलोक की कामना की, किन्तु अविवाहित के लिए परलोक वर्जित था। ऐसी स्थिति में उसने गालव के पुत्र श्रङ्गवान को अपना आधा तप प्रदान कर विवाह किया और तत्पश्चात् स्वर्ग गई। ये साक्ष्य इस बात का प्रमाण हैं कि पुरुषों की तरह स्त्रियों के लिए भी विवाह अनिवार्य हो गया।

सनातनी हिन्दू समाज में अविवाहित स्त्री या पुरुष आदर की दृष्टि से नहीं देखे जाते थे तथा उन्हें सच्चरित्र और आचारवान नहीं माना जाता था। विवाहित होना व्यक्ति के चरित्र और आचरण का सबसे प्रबल प्रमाण माना जाता था तथा उसका अविवाहित होना अविश्वास और शंका उत्पन्न करता था। हर्षचरित में बाण ने लिखा है कि जब हर्ष ने उस पर दुश्चरित्र

www.ignited.in

होने का आरोप लगाया तो उसने अपने बचाव में अपने को विवाहित और गृहस्थ होने की दलील दी। इससे स्पष्ट है कि प्राचीन काल में किसी व्यक्ति की सच्चरित्रता उसके विवाह से आंकी जाती थी और इसलिए विवाह अपेक्षित था।

(घ) उपयोगिता

हिन्दू विवाह का दर्शन पक्ष धर्म से प्रभावित रहा है, जिसमें नैतिकता, सच्चरित्रता और धर्मभीरूता निवेशित रही है। शुद्धि और स्वच्छता धार्मिक संस्कार के मुख्य तत्व है। मनुष्य के क्रिया, कलापों और क्षमताओं का स्वरूप संस्कार से अभिव्यंजित होता है, जो उसे सामाजिक बनाने के गुण प्रदान करता है और इससे मनुष्य को सामाजिक स्तर प्राप्त होता है। इस प्रकार हिन्दू विवाह धार्मिक संस्कार से प्रवाहित होकर व्यक्ति के जीवन को परिष्कृत, शुद्धि, स्वच्छ और उन्नत बनाता है। यही नहीं, व्यक्ति समाजीकरण के माध्यम से अपने कत्तव्यों का निर्वाह करता है। दरअसल हिन्दू विवाह उन समस्त कार्यों को निष्पन्न करता है, जिसमें व्यक्ति की निष्ठा, कत्तव्यपरायणता, परिवार और समाज के प्रति उसके दायित्व की अभिव्यक्ति होती है।

प्राचीन भारतीय संस्कारों में विवाह की महत्वपूर्ण उपयोगिता है, क्योंकि मानव समाज में विवाह संस्था बहुआयामी तथा विभिन्न आवश्यकताओं की पूर्ति के साधन के रूप में प्रचलित रही है। इस संस्था की आवश्यकता यौन सम्बन्धों की तृप्ति, आर्थिक सहयोग, बच्चों का पालन-पोषण तथा वंश परम्परा को चलाने के लिए रही है। पुराणों में विवाह को मांगलिक कार्य माना गया है। विवाह समस्त सामाजिक संस्थाओं का मूलाधार है। स्वाभाविक तथा सार्वजनिक स्थिति के कारण जैन पुराणकारों ने भी विवाह को एक महत्वपूर्ण कृत्य के रूप में स्वीकार किया है। प्राचीन समय में ही विवाह संस्कार का सम्मान और महत्व अधिक रहा है। आज भी इसका महत्व अधिक है। विवाह स्त्री-पुरुष में केवल ठेका भर ही नहीं है, बलिक् एक आध्यात्मिक एकता है और एकतजा का यह ऐसा पवित्र बन्धन है तो देवी विधान से सम्पन्न होता है। गृहस्थ जीवन में प्रवेशार्थ पति-पत्नी सम्यक जीवन व्यतीत करने, सन्तानों की रक्षा करने तथा सामाजिक व्यवस्था के लिए विवाह सूत्र में बंधते हैं।

सामाजिक व्यवस्था को संतुलित बनाए रखने के लिए तथा वंश-विस्तार्थ सन्तानोत्पत्ति को आवश्यक माना गया है। इसीलिए इस बात पर बल दिया गया है कि सन्तानहीन मनुष्य की गति नहीं होती अर्थात् मोक्ष की प्राप्ति नहीं होती। आदिपुराण में वर्णित है कि विवाह क्रिया गृहस्थी का धर्म है और सन्तान रक्षा गृहस्थी का प्रधान कार्य है, क्योंकि विवाह नहीं करने से प्रजा की संतति का उच्छेद हो जाता है। संतति के उच्छेद से धर्म का उच्छेद हो जाता है।

इस प्रकार विवाह दो विषम लिंगियों स्त्री और पुरुष के मध्य सम्पादित होने वाला मात्र एक धार्मिक अनुबन्ध ही नहीं, अपितु जाति और कुल की मर्यादाओं को नियोजित करने वाला एक सामाजिक सम्बन्ध भी है। अर्थात् चार पुरुषार्थों की प्राप्ति के लिए विवाह आवश्यक है। जैन पुराणों के समकालीन ब्राह्मण पुराण में सपत्नीक गृहस्थ को ही महान काल, दान तथा अभिषेक का अधिकारी वर्णित किया है। कालिदास ने धर्म, अर्थ तथा काम को विवाह का मुख्य उद्देश्य माना है।

प्राचीन भारतीय संस्कारों में विवाह एक अनिवार्य धार्मिक कत्तव्य समझा जाने लगा। ब्राह्मण तथा स्मृति साहित्य मं अनवरत रूप से उसकी महत्ता को प्रदर्शित किया गया है। तैत्तिरीय ब्राह्मण में इसे यज्ञ की संज्ञा दी गई है, जो पुरुष विवाह कर गृहस्थ जीवन में प्रवेश नहीं करता था। उसे अयाज्ञिक कहा जाता था। तीन ऋणों के सिद्धान्तों के विकास के साथ तो विवाह की पवित्रता प्राप्त होने लगी क्योंकि पितृऋण की मुक्ति सन्तानोत्पत्ति के द्वारा ही सम्भव थी और यह विवाह के माध्यम से ही संभव था। आश्रम व्यवस्था के अन्तर्गत गृहस्थाश्रम तो अनोखा स्थान रखता है, अतएव किसी भी व्यवस्था में विवाह की उपयोगिता को घटाया नहीं जा सकता था। प्राचीन हिन्दू मनीषियों के अनुसार विवाह का मुख्य उद्देश्य धर्म, अर्थ तथा काम की प्राप्ति था। यह एक सामाजिक उत्तरदायित्व तथा, क्योंकि इसका मुख्य उद्देश्य धर्म का पालन तथा अपने वंश को अक्षुण्ण बनाए रखना था। विवाह रति एवं पुत्र प्राप्ति के लिए उतना आवश्यक नहीं था जितना कि अपने धार्मिक कत्तव्यों की पूर्ति के लिए साथी को पाना था। डॉ. के. एम. कापड़िया ने 'भारत में विवाह एवं परिवार' में उल्लेख किया है-

"Marriage was desired not so much for sex or progency as for obtaining a partner for the fulfillment of one's religious duties.

विवाह समस्त संस्कारों में सर्वाधिक महत्वपूर्ण और गौरवशाली माना जाता है, जिससे व्यक्ति की नई सामाजिक और सांस्कृतिक स्थिति प्रारम्भ होती है। व्यक्ति का गृहस्थाश्रम में प्रवेश विवाह से ही होता है। इस संस्कार ने मनुष्य सामाजिक हो जाता है और उसकी वैयक्तिक स्थिति समाप्त हो जाती है। परिवार और समाज के प्रति उसके नए दायित्व प्रारम्भ हो जाते हैं तथा वह सामाजिक कत्तव्यों के प्रति कार्यशील हो जाता है। गृह-यज्ञ विवाह की सम्पन्नता से ही प्रारम्भ होता है। समाज की निरन्तरता व्यक्ति को गृहस्थ बनने पर ही निर्भर करती है। प्राचीन काल में विवाह की अनुपम महत्ता थी। इसके बिना मनुष्य निस्तेज माना जाता था। प्रायः लगभग तीस अनुष्ठान

विवाह के लिए किए जाते थे,ख् जिससे इसकी उपयोगिता और अधिक बढ़ जाती है।

सामाजिक और धार्मिक कत्र्तव्यों का निर्वाह विवाह के माध्यम से ही संभव था। यह एक सामाजिक बन्धन था, जिसे तोड़ा नहीं जा सकता था तथा आजन्म एक साथ रहने के लिए वचनबद्ध किया जाता था। व्यक्ति सामाजिक और धार्मिक उत्तरदायित्व का निर्वाह करता था। समस्त ऋणों से व्यक्ति उऋण होता था। वस्तुतः विवाह पुरुषार्थ का मूल था। मनुष्य अपने अन्य सभी कत्र्तव्य विवाह के पश्चात् ही कर पाने में समर्थ था, पहले नहीं। उसकी सारी उपलब्धियाँ गृहस्थ बनने के बाद ही एकत्र होती थी। अतः विवाह गृहस्थ जीवन का प्रथम मूल या आधार था। विवाह को संस्कृति का एक आवश्यक अंग कहा जाता है, क्योंकि यह एक साधन है, जिसके आधार पर समाज की प्रारम्भिक इकाई यानि परिवार का निर्माण होता है। वैदिक युग से ही परिवार और समाज का आधार धर्म रहा है तथा उसमें मनुष्य के महत्व की व्याख्या विवाह के माध्यम से की गई है। वस्तुतः व्यक्ति की स्थिति का रूपान्तर विवाह से ही होता है, जिसके माध्यम से व्यक्ति विभिन्न अधिकारों और कत्र्तव्यों को करने के लिए उत्प्रेरित होता है। परिवार और समाज ऐसे व्यक्ति की महत्ता को स्वीकार करते हैं। सनातनी हिन्दू समाज और उसकी व्यवस्था में अविवाहित व्यक्ति का कोई स्थान है, न परिवार में, न समाज में और न पारिवारिक सम्पत्ति के विभाजन में। ऐसा अविवाहित व्यक्ति समाज के प्रत्येक स्थल पर अविश्वास और शंका की दृष्टि से देखा जाता है। उसकी कोई मान-मर्यादा नहीं होती। इसके विपरीत विवाहित व्यक्ति समाज में आदर और श्रद्धा का पात्र होता है। वह सभी धार्मिक और सामाजिक कार्यों और उत्सवों में भाग लेता है और विविध दायित्वों को सम्पन्न करना है। इस प्रकार व्यक्ति के विकास में विवाह का प्रधान स्थान है, जो धर्म के आधार पर अभिव्यंजित होता है। उसकी स्थिति धर्मप्रवण विवाह से ही निर्धारित होती है, जिससे वह धार्मिक और सामाजिक भूमिका का निर्वाह करता है।

हिन्दू विवाह का आयोजन पूर्णरूपेण धार्मिक आचार-संहिता के आधार पर होता है तथा अनेक धार्मिक प्रक्रियाएं सम्पन्न करते हुए विवाह परिपूर्ण किया जाता है। ऐसे अनेक धार्मिक अनुष्ठान किए जाते हैं, जो हिन्दू विवाह को सम्पन्न करने में आवश्यक होते हैं।

हिन्दू विवाह का आधार पति-पत्नी के स्थायी सम्बन्ध से भी रहा है। दोनों का सम्बन्ध अटूट माना गया है तथा यह विश्वास रहा है कि दूसरे जन्म में भी पत्नी को वही पति प्राप्त होता है, किन्तु इस तरह का विश्वास बिना धर्म और नैतिकता के विरल ही था। धार्मिक भावना और विश्वास के ही कारण पति-पत्नी का आपसी सम्बन्ध स्थायी और जन्म-जन्मान्तर का है। स्मृतियों, धर्मसूत्रों और अन्य संस्कृत साहित्य में विवाह की ऐसी उपयोगिता की विवेचना की गई है। विवाह एक धार्मिक संस्कार माना गया है तथा उसका निर्देश धार्मिक आदेश। अतः विवाह के स्थायत्वि एवं उपयोगिता की भूमिका धार्मिक संस्ाि से ही निर्मित हुई है। साधारणतया यह कहा जा सकता है कि विवाह विश्व के सभी समाजों में पाया जाता है, लेकिन सनातनी हिन्दू समाज में विवाह एक धार्मिक कृत्य माना गया है। हिन्दूओं में प्रचलित षोड्स संस्कारों में विवाह को एक प्रमुख संस्कार माना गया है, जिसका उद्देश्य गृहस्ाि्ाश्रम में प्रवेश करने से है। गृहस्थाश्रम निर्वाह के लिए विवाह को एक धार्मिक संस्कार माना देवर के अलावा अन्य सम्बन्धी भी हो सकता था और वह केवल पुत्र प्राप्ति के लिए किया जाता था। इस प्रकार के विवाह में किसी प्रकार के संस्कार की अनिवार्यता नहीं होती थी। इस प्रकार के विवाह के पीछे मूल उद्देश्य यही होता था कि परिवार की स्त्री परिवार में ही बनी रहे।

संदर्भ संकेत

1. महा. 122/7
2. ऋग्वेद, 1/66/3
3. अर्थववेद 1/14/3
4. तैत्तिरीय सं. 6/1/8/5
5. तैत्तिरीय ब्रा. 3/9/4/7
6. शतपथ ब्रा. 5/9/4/7
7. ऋग्वेद 6/61/1
8. तैत्तिरीये सं. 6/3/10/5
9. आ.ध.सू. 2/6/13/16-17 पाणिग्रहणादि सहत्वं कर्मसु
10. महा. 13/24/4
11. महा. 1/74/41- अधर्म भार्या मनुष्यस्य भार्याश्रेष्ठतमः सरनवा।

    भार्या मूलं त्रिवर्गस्य भार्या मूलं तरिष्यतः।।
12. बनर्जी, सर गुरुदास, हिन्दू लॉ ऑफ़ मैरेज एण्ड स्त्रीधन, पृ. 25

www.ignited.in

13. वेस्टर मार्क, द हिस्ट्री ह्यूमन मैरेज, 1, पृ. 26

14. मजूमदार एण्ड मदान, ऐन इंट्रोडक्शन टू ऐन्थ्रोपॉलोजी, पृ. 416

15. बृहदारण्यक उप., 6/4/3

16. मार्कण्डेय पुराण, 21/68-73

17. ब्रह्मपुराण, 104/7-14

18. कौ. अर्थशास्त्र 1/7, धर्माथ विरोधेन कामं न सेवेत-1

19. मीणा, जमुना लाल, प्राचीन भारत में विवाहः सिद्धान्त एवं स्वरूप, लघुशोध प्रबन्ध, पृ. 15

Corresponding Author

Jamuna Lal Meena*

Lecturer, Department of History, Govt. College Karauli, Rajasthan